

## सम्पादक के नाम

**आज 18 वर्ष की आयु विवाह के लिए बालिग मानी जाती है। पर रूढ़िवादी हिन्दू वर्ग 12 वर्ष की सहवास आयु पर ही अडिग था**

1860 में यह आयु 10 वर्ष थी। इसके 30 साल बाद 1891 में यह आयु 12 वर्ष की गयी। 34 साल तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं होने दिया गया। इसके बाद 1922 में तब की केंद्रीय विधानसभा में 13 वर्ष का बिल लाया गया। पर धर्म के ठेकेदारों के भारी विरोध के कारण वह पास ही नहीं हुआ। 1924 में हरीसिंह गौड़ ने बिल पेश किया। वह सहवास की आयु 14 वर्ष चाहते थे। इस बिल का सबसे ज्यादा विरोध मदनमोहन मालवीय ने किया था, जिसके लिए 'चाँद' पत्रिका ने उन पर लानत भेजी थी। अंत में सिलेक्ट कमेटी ने 13 वर्ष पर सहमति दी और इस तरह 1925 में 34 वर्ष बाद 13 वर्ष की सहवास आयु का बिल पास हुआ था।

6 से 12 वर्ष की उम्र की बच्ची सेक्स का विरोध नहीं कर सकती थी। उस स्थिति में तो और भी नहीं, जब उसके दिमाग में यह भरा जाता है कि पति नाम का जानवर ही उसका भगवान और मालिक है। पर ऐसी बच्चियों के साथ सेक्स करने के बाद उनकी शारीरिक हालत क्या होती थी, इसका रोंगटे खड़ा कर देने वाला वर्णन कैथरीन मेयो ने अपनी किताब 'मदर इन्डिया' में किया है कि किस तरह जांघ की हड्डी खिसक जाती थी, मांस लटक जाता था और कुछ तो अपाहिज तक हो जाती थीं।

6 और 7 वर्ष की पत्नियों में कई तो विवाह के तीन दिन बाद ही तड़प-तड़प कर मर जाती थीं।

स्त्रियों और बच्चियों के लिए इतनी महान थी हिन्दू संस्कृति।

- साइबर नजर

## अब 200 कार पर एक बस दिखती है

80 के दशक तक दिल्ली का बाबू DTC बस से दफ्तर आता जाता था। फिर विकास की ऐसी आँधी सरकार लाई कि अब सब कार से दफ्तर और सब्जी लेते हैं। उसके लिए चिकनी सड़क और फ्लाईओवर का जाल बिछाया गया है।

अब 200 कार पर एक बस दिखती है। घर घर में AC लगता है। बिजली की रिकार्ड ज़रूरत पड़ती है, जिसे मध्य भारत के लाखों साल के जंगलों को खोद कोयला निकाल पूरा किया जाता है और हम जैसे 20-100 साल पहले दिल्ली मुंबई चेन्नई में आकर बसने वाले लोगों की सुविधा की खातिर उन आदिवासियों को माओवादी कहकर उनके हज़ारों साल पुराने निवास जंगल से लाठी गोली से मारकर हकाल दिया जाता है। इस विकास से सरकार को सिर्फ पेट्रोल डीज़ल से हर साल 2.50लाख करोड़ का इक्साइज मिलता है।

जापान कोरिया जैसे देशों को कार की तकनीक भारत में लाने के पैसे मिलते हैं। बड़े बड़े यूरोपीय अमेरिकी मिट्टी खोदने और सड़क बनाने वाली मशीनरी मिलती है। PPP मॉडल पर सड़क बनती हैं। हर साल बजट का बहुत बड़ा हिस्सा इसी कार की सेवा में अर्पित होता है।

हर 25 km पर टोल वसूलता एक रोजगार, और हाथ में डंडे लिया रोजगार दिखता है। दिल्ली से पटना अहमदाबाद जाने के लिए अब ट्रेन न मिले कोई बात नहीं, 3000 रुपए में Benj हर शाम खड़ी है न।

सिर्फ देश असहिष्णु कैसे बन गया? इस पर माथा घिसने से क्या होगा? हम सब इस पाप में हिस्सेदार हैं। अंधापन वह होता है जो एक चीज को देखे और दूसरे से मुँह फेर ले।

- अरुण प्रकाश मिश्र

## बच्चे ऐसी बीमारियों से कीड़े-मकोड़ों की तरह क्यों मर जाते हैं, जिनका इलाज सहज सम्भव है?

गर्भवती महिलाओं का अपमानजनक स्थितियों में प्रसव क्यों होता है और हमारे देश में जच्चा-बच्चा की अकाल मौत रोजमर्रा की घटना क्यों है?

अस्पतालों में भीड़ क्यों होती है और ऑपरेशन का डेट इतनी देर से क्यों मिलता है, जिससे पहले रोगी की अंत्येष्टि-तेरहवीं की तो बात ही क्या, तीसरी बरसी का भोज भी सम्पन्न हो जाता है?

और सबसे महत्वपूर्ण बात-- देश के किसी न किसी कोने में किसी न किसी डॉक्टर को लोग क्यों पिट रहे हैं, जबकि रोगी के परिजन उनको दिल से भगवान मानते हैं? वे एक-दूसरे के जानी दुश्मन क्यों बन गये जबकि उनका असली दुश्मन दोनों के निशाने पर नहीं आ पाता? बहुत सारी वजह हैं, लेकिन बुनियादी वजह ये मुखूतसर-सा जानलेवा आँकड़ा है--

भारत सरकार स्वास्थ्य पर सकल घरेलू उत्पाद का 2 प्रतिशत से भी कम खर्च करती है, जबकि वैश्विक औसत 6.5 प्रतिशत है; स्वास्थ्य पर सरकार केन्द्रीय बजट में 32000 करोड़ मुहैया करती है, यानी महज 300 रुपये प्रति व्यक्ति।

- दिगम्बर

## 'संवेदनात्मक ब्राह्मणवाद' परोसती फिल्म- 'आर्टिकल 15'

सीमा आजाद

पिछड़े मूल्य परोसने वाली बहुत सारी फिल्मों की भीड़ में आर्टिकल 15 अच्छी फिल्म है, जिसमें विदेश में पढ़ा एक ब्राह्मण पुलिस अधिकारी जाति के संवालों से टकराता है और उसे एक नायक की ही तरह अकेले हल भी करता है, जबकि फिल्म में एक संवाद है कि "समस्याओं के हल के लिए किसी नायक का इंतजार मत करो!" यूरोप के समाज में पढ़ा यह ब्राह्मण पुलिस अधिकारी नायक जितना भारत की जाति समस्या को देख पाता है, फिल्म में दलितों की समस्या उतनी ही दिखती है। यह फिल्म दलितों के प्रति पढ़े-लिखे सवर्ण लोगों के मन में एक सहानुभूति पैदा करती है। हॉल में बैठे दर्शकों की प्रतिक्रिया से भी यह स्पष्ट हुआ। यह सहानुभूति भी सकारात्मक है।

लेकिन ऐसी फिल्में आती हैं तो मेरे मन में यह सवाल उठता है कि जाति समर्थक साम्राज्यवादी व्यवस्था में ऐसी फिल्म को निर्माता कैसे मिला? और इस फिल्म का निर्माता तो "जी समूह" है। फिर इस फासीवादी सत्ता के संसर से बचकर फिल्म कैसे सिनेमा हाल तक आ गई? (फिल्म ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री आदित्यनाथ का शुक्रिया भी अदा किया है) फिल्म देखने पर ये सारी बात स्पष्ट हो गई। इसलिए मैं फिल्म की कहानी या अच्छाई पर बात नहीं करूंगी, बल्कि इस पहलू पर ही बात करूंगी।

फिल्म के कुछ बिंदुओं से होते हुए मूल बात तक आते हैं -

1- फिल्म देखकर ऐसा लगता है कि पढ़ा-लिखा तबका और विदेश में पढ़े लोगों के अंदर जातिवाद होता ही नहीं, जबकि वास्तविकता में ऐसा नहीं है। खुद फिल्म में भी वह जातिवाद पर सवाल तो उठता है लेकिन उसे तोड़ने के लिए कुछ करना नहीं दिखता। उसके घर दलित लोगों को ऊपर से पानी पिलाया गया, जिस पर उसने धीरे से आपत्ति की, लेकिन किया कुछ नहीं। उसने देखा कि मंदिर पर खाने के कारण

2) दलितों को पीटा जा रहा है, लेकिन उसने हल्के से सवाल पूछने के अलावा कुछ नहीं किया। उसके ऑफिस के कंपाउंड में एक सफाईकर्मी बगैर किसी सुरक्षा के सीवर में उतरता है और वो कुछ नहीं करता, जबकि यह सफाई अब मशीन से भी हो सकती है। वह कोई सामान्य आदमी नहीं आईपीएस अधिकारी है, जो यह सब बदल सकता है, फिर भी सभी मुद्दों पर चुप हो जाता है। और भी कई दृश्य फिल्म में हैं। यह इस पढ़े-लिखे तबके का सॉफ्ट जातिवाद है, जिसे जो चीजे गलत लग भी रही हैं उसे वह रती भर भी बदलना नहीं चाहता। दरअसल यह फिल्म "मानवीय या संवेदनात्मक ब्राह्मणवाद" परोसती है।

3- फिल्म जाति से जुड़े बहुत से मुद्दों को बहुत ही वेग और सतही तरीके से छूती हुई चलती है, किसी भी मुद्दे की गहराई में नहीं जाती है। कुछ बातें तो इतनी वेग तरीके से कहीं गई हैं कि समझ में ही नहीं आती, जैसे कि दलित नेता निषाद को किसने मारा? हत्यारों को पुलिस के लिबास में दिखाने से निर्देशक क्यों बचना चाह रहा था? जबकि उनकी करवाई पुलिस वाली ही थी।

4- फिल्म की कहानी जाति से संबंधित भारत के अंदर घटित पिछले कुछ सालों में घटी घटनाओं को अपनी कहानी में शामिल करती चलती है, लेकिन भीमा कोरेगांव की घटना जिसने इस ब्राह्मणवादी सत्ता को हिला दिया, का कहीं नाम भी नहीं लेती, क्योंकि यह घटना व्यवस्था को सीधी टक्कर देती है, और लड़ने के लिए प्रेरित करती है। भीमा कोरेगांव पर यह चुप्पी अनजाने में लगाई गई चुप्पी नहीं है। भीम आर्मी के रूप में खड़े हुए एक और दलित आंदोलन के नेता चंद्रशेखर आजाद की तर्ज पर बनाए गए पात्र निषाद के मुँह से यह भी कहला दिया कि "बीच में कोई हथियार नहीं आना चाहिए इसका बहाना लेकर सत्ता हमारे ऊपर दमन करती है" या "हम भी हिंसा नहीं मानते" जबकि फिल्म का सत्ता में शामिल ब्राह्मण पुलिस अधिकारी नायक के मुँह से यह कहलाया गया कि "संरचनागत हिंसा भी हिंसा है, जो दिखती नहीं"। जाहिर है, फिल्म में यह उलटबांसी जानबूझ कर की गई है, ताकि दलितों का आक्रोश हिंसा करने तक कतई न पहुंचने पाए।

5- फिल्म दलितों का आंदोलन खड़ा करने की बजाय सत्ता के स्तंभों से सुधार की, और मानवीय होने की उम्मीद की वकालत करती है। फिल्म में दलित नेता जो कि भूमिगत है, को मार दिए जाने के बाद उसकी प्रेमिका गौरा अपना दुख व्यक्त करने के लिए और किसी के पास न जा कर उस पुलिस वाले के पास जाती है, जो उसके ही समुदाय का है, लेकिन जो दो दिन पहले उसकी रिपोर्ट नहीं लिख रहा था। वह पुलिस वाला भी उसे लिपटकर रोता है। फिर गौरा जो कि खुद



आर्टिकल 15 कुछ लोगों को अतिरंजित लग सकती है, कुछ को यह सवर्ण विरोधी और कुछ लोगों को राजनीति से प्रेरित। पर यह फिल्म प्रत्येक देशवासी को देखनी चाहिए। उन्हें देखना चाहिए कि दर्पण में उनका चेहरा कैसा दिखता है।

इसलिये भी देखी जानी चाहिए क्योंकि 21वीं सदी में भी भारत में लोग गटर में सफाई करते हुए मर जाते हैं।

इसलिए भी देखनी चाहिए कि सत्ता की कोई जाति या धर्म नहीं होता। वह अपने विशुद्ध रूप में सत्ता ही होती है।

इसलिए भी देखनी चाहिए कि 'सब बराबर हो जाएंगे तो राजा कौन बनेगा' जैसे विचार को कैसे संजोए रखा है, हमारे समाज ने।

इसलिए भी देखनी चाहिए कि आजादी के बाद हमारे संविधान निर्माताओं ने कितने महान उद्देश्य के साथ आर्टिकल 15 जैसे अनुच्छेद जोड़े हैं संविधान में, और आज भी ये समानता कोसों दूर है।

- परितोष मालवीय

एक्टिविस्ट है, खुद कुछ नहीं करके पूरी तरह पुलिस पर ही आश्रित रहती है। उसके समुदाय के बाकी लोग भी निरीह से लगते हैं जबकि अयान रंजन जो कि ब्राह्मण है, सत्ता में उच्च पद पर बैठे "शास्त्री" जी के साथ मिलकर केस सुलझा लेता है और अंत में अभियान में लगे सभी पुलिस कर्मियों को दलित महिला की दुकान से रोटी खिलाकर जाति से मुक्त भी कर देता है। पोस्ट मार्टम की रिपोर्ट सही बनाने वाली दलित डॉक्टर को साहस और सुरक्षा देने का काम भी यह पुलिस अधिकारी ही करता है। खुद वह यह साहस नहीं कर पाती है।

6- फिल्म वर्तमान सरकार में रिलीज इसलिए हुई क्योंकि बदायूं के बलात्कार की यह घटना सपा सरकार के समय की है, वर्तमान सरकार को उसमें एक महंत के रूप में दिखाया गया है, जिसका इन घटनाओं से कुछ लेना देना नहीं है, वह केवल इस घटना का फायदा उठा रहा है, और फिर चुनाव जीत भी जाता है। यह बात वर्तमान सरकार के उतनी खिलाफ नहीं जाती है। बल्कि इस बात को दिखाते हुए उनकी "सामाजिक समरसता" प्रचार ही हो जाता है। फासीवाद की तो यह विशेषता ही है कि वह अपने विरोध में कहीं जाने वाली बातों पर चुप रह कर सिर्फ अपनी बात बोलते रहते हैं, इतनी बार कि उसे मानने वाला एक तबका तैयार हो जाता है। फिल्म ने यह काम कर दिया है। फिल्म की शुरुआत में आदित्यनाथ को धन्यवाद देना महज औपचारिकता नहीं है।

7- आर्टिकल 15 और बाजार - सवाल उठता है कि यह फिल्म बनाई क्यों गई है, जिसमें जी समूह और मुख्यमंत्री आदित्यनाथ का सहयोग है? इसका जवाब फिल्म के शुरू होते ही (और अंत में भी) मिल जाता है, जब नायक ब्राह्मण पुलिस अफसर एक दलित बस्ती स्थित दुकान से मिन्नल वॉटर की बोतल खरीदने को कहता है और अधीनस्थ पुलिस कर्मी यह कहकर मना कर देते हैं कि "इनकी छया भी वर्जित है"। लेकिन नायक जो कि पूंजीवादी संस्कृति में पला बढ़ा है, उसे ये बात अटपटी लगती है और वह वहीं से पानी खरीदने को कहता है और पी भी लेता है। यह "बाजार फंडली लोकतंत्र" है, और यह फिल्म इसके प्रचार के लिए ही बनाई गई है।

फिल्म के बीच में भी "sarf" के विज्ञापन की टैग लाइन "दाग अच्छे हैं" को ब्राह्मणवाद के खिलाफ बोला गया है। यह सुनने में तो चुटीला लग रहा है, लेकिन साथ ही यह भी संदेश देता है कि "बाजार ब्राह्मणवाद का विरोधी है", जो कि सच नहीं है। पूंजीवाद अपनी आर्थिक मंदी से निकलने के लिए ज्यादा से ज्यादा लोगों को अपनी ज़द में लेना चाहता है। वह बाजार का विस्तार चाहता है, लेकिन यदि जाति की आंच उसकी दुकानदारी या मुनाफे पर आती है, तो वह उसे उतना बदलने में लग जाती है, जितना उसके लाभ के लिए आवश्यक है। इसके लिए अक्सर उसे लोगों के दिमागी मूल्य बदलने की जरूरत भी होती है। इस समय

वह पुराने मूल्यों के बोरे को हिलाकर उसमें जनवादी और क्रांतिकारी मूल्यों के लिए थोड़ी जगह बना देती है। पिछले कई सालों से साम्राज्यवादियों की आर्थिक मंदी के कारण भारत का शोषित तबका जिसकी बड़ी आबादी दलितों की है, आंदोलित हो उठा है, जिसके कारण सत्ता व्यवस्था अस्थिर हो गई है यह बाजार की व्यवस्था के खिलाफ जाता है, क्योंकि इससे क्रांतियां जन्म लेती हैं। क्रांति संपन्न नहीं भी हो सकी तो मजदूर किसान के रूप में दलित अपने हक अधिकार की बात करते हैं, जिससे उनके मुनाफे पर संकट बढ़ जाता है।

अतः उन्हें शांत करने के लिए वह यह तरीका निकलता है। उनकी मिन्नल की बोतल और दूसरे उत्पाद सुवर पालने वाली बस्ती तक से बिक सके और सभी उसे खरीद सकें, इसके लिए लोगों के मूल्यों में बदलाव जरूरी है, फिल्म के माध्यम से इसी बदलाव की कोशिश की गई है। यह पहली बार नहीं हुआ है। इसके पहले जब महिलाओं के आंदोलन तेज होने लगे थे तो "पिंक" फिल्म के माध्यम से महिलाओं की आजादी की बात करते हुए उन्हें साम्राज्यवादी बाजार तक पहुंचने की कोशिश की गई थी, उसके भी पहले नौजवानों को आंदोलन का रास्ता छोड़ सत्ता में शामिल होने के लिए "रंग से बसंती" बनाई गई थी। यह भी अनायास नहीं है कि "कबीर सिंह" जैसी पिछड़े मूल्य वाली और "आर्टिकल 15" जैसी फिल्में एक साथ निर्माताओं द्वारा परोसी जा रही हैं।

क्योंकि हमारा समाज "अर्द्ध सामंती अर्द्ध औपनिवेशिक" है। यहां दोनों मूल्यों का बाजार मौजूद है, जब जैसी जरूरत होती है निर्माता वैसी फिल्में हमारे सामने पेश कर देते हैं। मूल्यों में दोनों तरह की फिल्में एक दूसरे की विरोधी दिखते हुए भी बाजार के लिहाज से एक दूसरे की पूरक हैं। सत्ता मूल्यों में ऐसे सामंजस्य बिठाए जाने का महत्व जानती है, इसलिए ये फिल्में संसर बोर्ड से पास हो जाती हैं इन्हें निर्माता भी मिल जाते हैं। जो पिछड़ी कट्टर सोच वाले लोग "बाजार और सत्ता" के इस गणित को नहीं समझ पाते, वे इन फिल्मों का विरोध करते हैं।

समस्या हम जैसे लोगों के सामने आती है कि "आर्टिकल 15" और "पिंक" जैसी फिल्मों को क्या मानें- अच्छी या बुरी, प्रगतिशील या पिछड़ी? हम "आर्टिकल 15" के कथा लेखक गौरव सिंह सोलंकी और निर्देशक अनुभव सिन्हा को धन्यवाद कहते हैं कि उन्होंने बाजार के लिए सामंती व्यवस्था का बोरा हिलाया और दलितों के लिए भी थोड़ी स्पेस बनाने का काम किया, लेकिन वास्तव में तो यह space दलितों के लिए नहीं बाजार के लिए बनाया गया है, इसलिए इस space का लाभ लेकर हम यही तक नहीं रुकेंगे। इस लड़ाई में हम अपना रास्ता अलग लेंगे, अपना नायक अपने बीच से ही बनाएंगे, अपनी लड़ाई खुद लड़ेंगे, और सबसे महत्वपूर्ण कि उस इतिहास के साथ लड़ेंगे, जिसके ऊपर फिल्म बनाने के बारे में ये मुनाफाखोर फिल्म इंडस्ट्री कभी नहीं सोच सकती।